भूमंडलीकरण के बाद की हिंदी कहानी

(डा) नीलाभ कुमार
सहायक प्राध्यापक
शासकीय विज्ञान महाविद्यालय, अंबिकापुर
जिला-सरगुजा
पिन: 497001 (छत्तीसगढ़)
मो: 9644212029, 6265133124
email:kumarneelabh81@gmail.com

एजाज अहमद ने अपने लेख 'भूमंडलीकरण और संस्कृति', जो संवेद (पत्रिका), संपादक- किशन कालजयी, अंक-36, जनवरी-2011 पृष्ठ-11 में प्रकाशित है- में लिखते हैं- "तृतीय विश्व के देशों में राष्ट्रीय बुर्जुआजी के राष्ट्रवाद की अंतिम समाप्ति, पूर्वी यूरोप और यू एस एस आर में सोवियत प्रणाली की समाप्ति तथा चीन में पूँजीवादी प्रणाली की पुनर्स्थापना के साथ हुई । केवल तभी एक बड़ी संख्या में तृतीय विश्व के देशों ने इस तरह व्यवहार करना शुरू किया जैसे उस चीज का कोई विकल्प नहीं था, जिसे अब 'भूमंडलीकरण' कहा जाता है।" (1) भूमंडलीकरण ने दुनिया को एक 'गाँव' बनाया । लोगों की भौतिक दूरियाँ कम होने लगीं, पर संवेदनात्मक दूरियां उसी एवज में बढ़ने लगीं। बढ़ती हुई यह दूरी लोगों को एक-दूसरे से दूर करती रही । इतना दूर, इतना दूर कि लोगों को अपनी मंजिल तय कर पाना भी मुश्किल होने लगी । चलते रहो, बस! चलने का उपक्रम करते रहो । कहाँ जाना है, किधर जाना है, कैसे जाना है-यह तय कर पाना लोगों को बड़ी मुश्किल हो रही है । हम अपनी मंजिल की तलाश में चले जा रहे हैं, पर यह चलना हमें कहाँ पहुँचाएगा,यह हमें भी पता नहीं चल पा रहा है । हमारे चलने में आगे गड्ढा है, खाई है या और ऐसी ही कुछ दूसरी परेशानियों का अंबार खड़ा है- यह भी हमें पता नहीं है । हम पता करना भी चाह रहे हों, तो उसे पता कर पाना मुश्किल हो रही है ।

भूमंडलीकरण ने दुनिया को इतना छोटा और लोमहर्षक करने की तरकीब निकाल ली है कि लगता है हम उसके इस भंवरजाल में जैसे फंसते चले जाने को विवश कर दिए जा रहे हों ! विनोद बिहारी लाल का कथन ध्यातव्य है-"वैश्वीकरण की प्रेरणा के मूल में बड़ी उद्दात्त भावनायें थी-मानवीय व्यापारों में उदारीकरण, समता और न्याय पर आधारित व्यवस्था, व्यक्ति की स्वतंत्रता और उन सभी कृत्रिम घेरों-बंधनों से उसकी मुक्ति जो उसे भयावह रूप में जकड़े हुए हैं, व्यवसाय और व्यवहार, पूँजी और उद्यमी को विश्वहित में विकास की ऊँचाईयाँ छूने देने के लिए देशों की मानव निर्मित सीमाओं को यथासम्भव अप्रभावी बना देना आदि ।"(समकालीन भारतीय साहित्य, अंक-156, जुलाई-अगस्त, 2011,अतिथि संपादक-प्रभाकर श्रोत्रिय, रवीन्द्र भवन,35,फीरोजशाह मार्ग, दिल्ली, पृष्ठ-74)। (2) विवशता का ही नतीजा है कि वैशाली सारस्वत जैसी लड़कियाँ भंवरजाल का शिकार हो जा रही हैं, जिसका नतीजा यह हो रहा है कि 'इश्क ये करे और लात हम खायें' की भावना से पूरा परिवार लहू-लुहान होने की स्थिति में आ जा रहा है । वैशाली सारस्वत के घर से निकल भागने का दुष्परिणाम दूसरे घरों में भी आसानी से पहुँच जा रहा है । "सोनपती बहनजी ने उस रोज माचिस की तीली से अपनी चारों लड़कियों के पैर पर बिंदी लगाई थी और कसम रखवाई थी कि कोई कितना भी दिलकश नौजवान आकर उन्हें कैसा भी झाँसा दे,उन्हें इस चक्कर में नहीं आना है ।"(3) अल्पना मिश्र की कहानी-'स्याही में सुर्खाव के पंख' से, जो इसी नाम के संग्रह में प्रकाशित है । इस हिदायत के साथ सोनपती बहनजी की घर की लड़कियों को लेकर चिंता भी मन में उपजने लगती है । "सोनपती बहनजी की चिंता में लड़कियों की शादी की जल्दी लेकर आई थी । सबको अचानक चारों तरफ युवा लड़के चालाक और बहलाने फुसलाने वाले बहेलिए लगने लगे थे । लड़कियाँ किसी लड़के के साथ भागने की फिराक में रहने वाली दुश्चरित्राएँ बनकर डराने लगी थीं ।"(उपर्युक्त, पृष्ठ-28-29)।(4) सोनपती बहनजी की यह चिंता प्रकारांतर से उस पूरे मध्यवर्ग और निम्नमध्यवर्ग की चिंता से हमारा बावस्ता करवाता है, जो अपनी अगली पीढ़ी की लड़कियों को लेकर बेहद संवेदनशील हैं । सोनपती बहनजी की ऐसी संवेदनशीलता का ही नतीजा है कि वे अपनी मंजिल ढूंढ़ने का प्रयत्न करती दिखाई दे रही हैं । यह प्रयत्न स्वभावतः कहाँ जाएँ? कैसे जाएँ? किधर जाएँ? का सवाल लाखों-करोड़ों सोनपती बहनजी के सामने खड़ी दिखाई दे रही है । यह पूरी विवशता उस भूमंडलीकरण की उपज के रूप में हमारे सामने दिखाई देती जान पड़ती है, जिसने भौतिक दूरियों को भले ही कम किया हो, पर संवेदनशीलता को बहुत हद तक क्षरित किया है।

'जाति न पूछो साधु की' वाले कबीर की नगरी काशी ही नहीं, पूरे भारतवर्ष में 'साधुओं' द्वारा किसी व्यक्ति को समझने का एक सबसे प्रबल माध्यम जैसे जाति ही रह गयी है । यह कैसी दुर्दशा है- हमारे शिक्षण संस्थानों का, जहाँ योग्यता पर बात होनी चाहिए थी, वहाँ भाई-भतीजावाद, जातिवाद और इसके बाद क्षेत्रवाद पर पहले बात होती है, योग्यता को सैकड़ों मील पीछे छोड़कर । यह किसी शैक्षणिक संस्थान के लिए दुर्दशा नहीं, तो और क्या है? क्यों न योग्यता पगला जाए? योग्यता रखकर सुबोध मिसिर जैसा प्रतिभाशाली लड़का जाति के चक्की में इस कदर पीस जाने को मजबूर हो जाता है कि उसे अंततः बनारस नगरी छोड़नी पड़ती है और बेरंग अपने गाँव वापस जाने को मजबूर होना पड़ता है, जहाँ उसके अपने ही ग्रामीण, उसके सामने बेपढ़े, अनपढ़ गिद्धों की भांति उसे नोचने-खसोटने के लिए टूट पड़ते हैं । सुबोध मिसिर अपने परिवार के बोझ से इस कदर दबा जा रहा है कि उसकी अधिकांश जमीनें गिरवी हो गयी हैं, बेटियाँ बच्चे से जवान हो गयी हैं और पत्नी वय होती चली जा रही है, उसके आगे के कई दाँत जमींदोज हो गये हैं । कहा जाए कि सुबोध मिसिर के स्वप्नों के कुम्हलाते चले जाने के साथ उसके परिवार के स्वप्न भी धूल-धूसरित होते चले जा रहे हैं । क्या यह विडंबना से कम है कि वर्चस्वशाली प्राध्यापकों के संतान,संबंधी;चाहे वह निरा मूर्ख ही क्यों न हो- विश्वविद्यालयों के विभागों में सहायक प्रोफेसर, रीडर और प्रोफेसर आसानी से बन जा रहे हैं और सुबोध मिसिर जैसे दूसरे होनहार लड़के दर-दर की ठोकरें खाने के लिए मजबूर हो रहे हैं । कथाकार देवेंद्र ने बड़ी संजीदगी से कहानी 'नालंद पर गिद्ध' में कथा-तत्व में हास्य को रहस्य के साथ पिरोया है । "ये प्रोफेसर लोग खाते क्या हैं? आज यही जानने के लिए वे मचल पड़े । वह जानना चाहते थे कि आखिर कौन-सा अन्न है जिसने इनकी वासनाओं को प्रचंड और जनेंद्रियों को निष्क्रिय कर दिया है?" ('समय बे-समय' कहानी-संग्रह, प्रथम संस्करण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, पृष्ठ-113)। (5)

पूँजी की सत्ता बड़ी चालाकी से और जरूरत पड़ने पर बड़ी बेरहमी से अपना शिकार करती है । आम जनता के धन और संसाधनों की हड़प की चाहत जिस तेजी से भूमंडलीकरण के बाद बढ़ी है, उस चाहत में सत्तासीन शासकों ने भी उसे मदद पहुँचाने की कोशिश जारी रखी है । इक्कीसवीं सदी में सत्तासीनों की यह चाहत जैसे और भी अधिक तीव्र होती दिखाई दे रही है । इस तीव्रता की अनुगूंज हमें इक्कीसवीं सदी की कहानियों में दिखाई देती है । भूमंडलीकरण के मायाजाल में जिस ढंग से गाँव, कस्बा और शहरों को निगलने के लिए पूँजी की सत्ता लालायित रहती है, वहाँ ऐसा लगता है- कुछ भी संभव है । संभव है- खेत

बाँध से जमा पानी में डूब जाए, किसी कंपनी के बोर्ड के नीचे दब जाए, जिसके बाद उसकी कोई पहचान ही न बच पाये । विस्थापितों की संख्या में वृद्धि होती रहे । झुग्गी बस्तियों के ऊपर बुलडोजर चला दिये जायें और बस्ती-की-बस्ती उजड़ जाये।

भूमंडलीकरण के बाद बनने वाली दुनिया की तस्वीर में एक जो बहुत महत्वपूर्ण तस्वीर बनती दिखाई दे रही है, वह पूँजी की सत्ता का शासक के साथ गठजोड़ ।इस गठजोड़ ने संवैधानिक राष्ट्रों के मूल्यों की भी तिलांजलि जैसे दे दी है । संवैधानिक मूल्य जैसे शिथिल कर दिए गए हैं और उसकी जगह पर शासक का मनमानापन हावी हो गया है । यह न तो आमलोगों के लिए ठीक हो सकता है और न ही किसी लोकतांत्रिक राष्ट्र के लिए। यदि देश का शासक ब्रह्मपिचाश हो जाए, छद्म वेष को धारण कर लोगों की आँखों में धूल झोंकने का काम ही करता रहे और आम जनता की वास्तविकता से मुँह मोड़े रहे, उसे बेरोजगारों की बेरोजगारी दिखाई न दे और इसकी जगह पर जुमलों से काम चलाने की कोशिश करे, तो ऐसी स्थिति किसी भी लोकतांत्रिक राष्ट्र के लिए बड़ी अहितकर साबित हो सकती है । इसी का नतीजा है- किसानों की (आत्म)हत्या । किसान कर्ज तले इस कदर पीसता चला जाए कि उसका कर्ज भी सरकार की नजर में न आये, तो इस स्थिति में उसके पास अपने बहुमूल्य जीवन के त्याग के सिवा और कोई चारा नहीं रह जाता है! एक ऐसी स्थिति निर्मित कर दी जाती है, जिसमें किसान अपनी समस्याओं को शासक वर्ग तक पहुँचा पाने में भी असफल साबित होता है और अंततः वह (आत्म)हत्या तक अपने को पहुँचा देने को विवश हो जाता है । यदि शासकों की ही नीति हमें झांसे में रखने की हो, पूरे देश को अपने-पराये शिकारियों से घेर दिए जाने की लालसा जाग उठी हो,तो उन शिकारियों की नीति तीतर के फंदे से अधिक क्या हो सकती है? शासकों की नीति इतनी लोमहर्षक है कि कोई भी उसमें खुशी-खुशी फंसने को तैयार हो जा सकता है । आम जनता की नीयति का जैसे निर्धारण करती शासकों की नीति के फंदे में फंसना स्वाभाविक जान पड़ने लगता है । अपनी नजर में शासक भले ही महान बनता फिरे, पर उसका मूल्यांकन तो आम जनता के लिए किए गये उसके कार्यों से ही होगा। शेक्सपियर द्वारा महान होने की जो तीन कसौटी निर्धारित की गई है, उसमें एक जन्मना है,दूसरे अपने कर्म से महान बनता है और तीसरे जबर्दस्ती महानता लाद दी जाती है । तीसरी लादी गई महानता शासक वर्ग द्वारा जबर्दस्ती लदवायी जाती है। लोगों को जबर्दस्ती अपनी आरती उतारे जाने के लिए बाध्य की जाती है । जो भी बाध्य होने के लिए तैयार नहीं होता, उसे कठिन-से-कठिन दंड भुगतने के लिए तैयार होने को विवश किया जाता है । यहाँ तक कि

फांसी के फंदे पर भी झूलने के लिए विवश कर दिया जाता है। ऐसी स्थिति निर्मित कर दी जाती है,जिसमें लोग जाने-अनजाने फांसी के फंदे तक अपने को पहुँचाने के लिए विवश हो जाते हैं ।

बाजार के साथ शासक ने अपना गठजोड़ कर लिया है। इस गठजोड़ में पूँजी की सत्ता ने ऐसा खेल रच रखा है कि वह स्वयं ही बाजार बन बैठा है। बाजार की शक्तियों को नियंत्रित करने लगा है। पूँजी की सत्ता का शासक वर्ग के साथ इस ढंग का गठजोड़ है कि आम जनता उसे ठीक से समझ भी नहीं पाती। और यदि समझती भी है तो उसे इतना लोमहर्षक लगता है और ऐसा महसूस होने लगता है कि बाजार की शक्तियां हमारे लाभ के लिए ही योजनाओं का क्रियान्वयन करने में जुटी है। लेकिन ऐसी लोमहर्षक योजनाओं का वास्तविकता से लेना-देना कम होता है और आमजन जबतक अपने को छले जाना महसूस करने लगता है, तबतक उसका सारा कुछ मिट जाता है, जिसके सहारे वह आगे का जीवन जीने की तैयारी में जुटे रहने की कोशिश में लगा होता है। महँगाई ने आम आदमी का कलेजा धकधका दिया है। सत्यनारायण पटेल ने अपनी कहानी 'तीतर फांद', जो 'पल प्रतिपल' के अंक-79 में प्रकाशित है- में उक्त बात की भी नोटिस ली है- "राधा के मन में जो आया बोलने लगी- इसकी किश्त--- उसकी किश्त । बिजली का बिल । दूध का बिल । सारे बिल बढ़ गये । गैस महंगी हो गई । महाराजा धन्ना सेठों के बिजली बिल माफ करता, अरबों के कर्ज माफ करता । उन्हें अरबों की सब्सिडी देता । हमारी गैस सब्सिडी भारी पड़ रही । हमसे गैस सब्सिडी छोड़ने की भीख मांगता । तुम्हें छुटकी के चक्कर में कुछ होश-हवास तो रहता नी ! मैं कह देती हूँ--- हाँ । उस झांसेबाज के झांसे में आकर सब्सिडी मत छोड़ देना । देखना--- वो अभी भीख मांग रहा, एक दिन छीनेगा । मैं चाहती हूँ कि उसे छीनने की नीचता पर उतरने दो!" (पृष्ठ-310-311) (6) आज राधा की यह बात सच साबित होती जान पड़ रही है । गैस सब्सिडी अब न के बराबर आती है । यह न के बराबर भी शून्य कर दिए जाने की तैयारी में जुटा है । हमारा शासक जो हमें सपने दिखाने में माहिर है, उसका क्या भरोसा? वह कब क्या बोल दे,कब क्या कर दे-यह वह भी नहीं जान पाता है । ऐसी स्थिति में हम सबों की नौकरी बची हुई है-यह कम थोड़े ही न है! जहाँ नौकरियों में लगातार कमी होती जा रही है, उसमें "नौकरी क्या तीतर फांद से कम है! गर्दन बचाता हूँ तो पैर फंस जाता है । पैर निकालता हूँ तो हाथ फंस जाता । क्या नौकरी और क्या गृहस्थी! ये जो पूरा सिस्टम है न! यह पूरा का पूरा जस तीतर फांद है!" (उपर्युक्त, पृष्ठ-311) (7)।

रामराज्य की जो कल्पना की जाती है, वह कल्पना आदर्श को संजोये हुए है । एक ऐसा आदर्श, जिसमें सभी लोग अपनी हिस्सेदारी स्वयं पा सकेंगे । इसके लिए उन्हें किसी प्रकार की कोई मशक्कत नहीं करनी होगी । इसी आदर्शात्मक राज्य के यूटोपिया में जीने के लिए विवश किए जा रहे लोग रामराज्य की कल्पना संजोये हुए हैं ।एक ओर यह कल्पना का पहाड़ है, तो दूसरी ओर इस पहाड़ के तले ढूह भी अपनी बराबर की हैसियत से पैर पसारे जा रहा है । 'तीतर फांद' कहानी की छुटकी का यह सवाल जैसे ढूह की मजबूती को ही और अधिक बल प्रदान करती नजर आती है- "आप सब कैसे जिए जा रहे हो जबकि रोज लाशों के ढेर ऊँचे हो रहे हों । ये कैसे रामराज्य की ओर बढ़ रहे हो! जहाँ मजदूर, किसान,छात्र,गाय और तीतर तक सुरक्षित नी है!" (उपर्युक्त,पृष्ठ-316) (8)।

यदि शासक ही शिकारियों को प्रश्रय देने लगे,आम जनता की उपेक्षा करने लगे,तो उस स्थिति में आम आदमी की जिंदगी का जो हश्र हो सकता है वह सहज कल्पनीय है । आम आदमी दो-जून की रोटी के लिए मशक्कत करता दिखाई देगा और शासक उस मशक्कत कर रही जिंदगी पर हँसता रहेगा । ऐसी स्थिति में यदि लोकतांत्रिक शासन तंत्र की पूरी व्यवस्था ही खतरे में दिखाई देने लगे, तो उसमें भला अचरज की क्या बात हो सकती है? न शासन तंत्र के 'कोलेप्स' होने पर अचरज की बात हो सकती है और न ही प्रेम के कहीं दूर छिटक जाने पर कोई संशय ही हो सकता है! "हम किसी ओछे मगज के आदमी की भांति नी कि तुम्हारे प्रेम पर डंक मारते । एक बार कहा तो होता! खैर--- शिकारियों की वजह से हमारी जाति खतरे में है,पर क्या करें! जंगल की नीतियाँ और पूरी व्यवस्था कोलेप्स कर रही है । हमारे महाराजा को जंगल खोरों की चिरौरी करने से ही फुर्सत नी है!" (उपर्युक्त, पृष्ठ-320) (9)। 'तीतर फांद' के किसान शंभू सिंह जैसे लोगों की (आत्म)हत्या शासनतंत्र में लगे तिवारी और हेडसाब की कारस्तानियों की वजह से ही हो रही है । किसानों के लिए जिस ढंग की नीति का शासक वर्ग पालन कर रहा है, वह नीति किसान-विरोधी जान पड़ती है । किसान विरोधी नीति की वजह से ही किसान अपनी जायज मांगों के लिए भी धरना पर बैठते हैं, आमरण-अनशन करते हैं, लेकिन उनकी बात सुननेवाला कोई नहीं है । "शंभू खुद फांसी पर नहीं झूला, बल्कि देश की नीतियों के धोखे से बुने तीतर फांद में फंस गया था और निकल न सका था । या उसे लगा हो कि धीरे-धीरे किसान भी तीतर की तरह बिरला हो जाएगा ।" (उपर्युक्त, पृष्ठ-329) (10)।

'डेमोक्रेसी' में चुनी गयी सरकार के मुखिया के पद का तो हमें कद्र करना ही चाहिए। लेकिन, यह मुखिया यदि हमारे मन में ऐसा करने के लिए भय पैदा करता है, हमपर दबाव

डालता है, तो वह डेमोक्रेसी की तासीर के विरूद्ध होगी । और ऐसी स्थिति में हम बाध्य होंगे कि डेमोक्रेसी के माध्यम से चुनी गयी सरकार के मुखिया की गलत लगने वाली, आम जनता के विरूद्ध की नीतियों की मुखालफत करें । भले ही इस मुखालफत के लिए हमें जेल दिया जाए, हमपर राजद्रोह, राष्ट्रद्रोह का मामला लाद दिया जाए, हमारी मुखालफत तो चलती ही रहेगी । और यही मुखालफत डेमोक्रेसी को जीवित रखने के लिए वरदान भी साबित होगी, अन्यथा डेमोक्रेसी का तो कचरा बनाने की पूरी जद्दोजहद चल ही रही है! भूतपूर्व अमरीकी राष्ट्रपति जार्ज बुश ने जब कहा था कि यदि हमारे साथ नहीं हो,तो आतंकवाद के साथ हो,कुछ ऐसी ही घटना-परिघटना से हमें यदि वाकिफ़ होता रहना पड़े और राष्ट्र में रहने के लिए जबरन हमसे भारतमाता की जै करने के लिए बाध्य किया जाए,तो यह फरमान किसी भी तरीके से डेमोक्रेसी के हितार्थ नहीं होगा ।डेमोक्रेसी में यदि विरोध की जगह नहीं है,तो वह डेमोक्रेसी नाममात्र की ही है ।

छुटकी की बहादुरी के माध्यम से कथाकार ने जिस सकारात्मकता को कहानी में जगह दी है, वह सकारात्मकता हम सबों के लिए जैसे पथ-प्रदर्शक का काम करेगी । “छुटकी की कीर्ति की खुशबू से पूरा मुहल्ला महक रहा था । लेकिन मेरी हालत ऐसी थी कि क्या बताऊँ? मन पर जैसे दुख की शिला रखी थी । आंखों के भीतर ही भीतर झरना बह रहा था । लेकिन फिर भी सबके सामने फख्र से छाती फूल रही थी, क्योंकि मेरी छुटकी बहुत बहादुर थी । उसकी शहादत व्यर्थ न जाएगी । जंगल-महाजंगल जागेगा एक दिन । उसकी स्मृति जंगल के घुप अंधेरे में स्वर्णाभा-सी चमकेगी!” (उपर्युक्त, पृष्ठ-334) (11) ।

शहरों में रहनेवाली; खासकर नयी पीढ़ी की भाषा में ‘हिंग्लिश’ का इस्तेमाल ज्यादा होने लगा है । यह परिवर्तन भूमंडलीकरण के बाद की बननेवाली दुनिया की तस्वीर की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करती है । इस बात को मोहम्मद आरिफ ने अपनी कहानी ‘इंग्लिश पनीर @ मिलन’ में जगह दी है । वे लिखते हैं- “ मैंने आपके जान से प्यारे शहर को खूब एक्सप्लोर किया है--- मिलन इज़ ए ग्रेट प्लेस--- बेस्ट क्राउड वहाँ जाता है--- ट्राई करते हैं पापा---क्या पापा---बस मिलन । अलका जी ऐसे में न्यूट्रल हो जाती हैं । खाली इतना बोलीं- आई हैव नो प्राब्लम ।“ वेतनभोगी वर्ग भूमंडलीकरण के बाद बननेवाली दुनिया की तस्वीर में अपने को बहुत सारी समस्याओं में घिरा हुआ रहने को विवश पा रहा है । बढ़ती महँगाई की मार वेतनभोगी को झेलना ही होता है । उसे अपने खर्चे में से कटौती करनी पड़ती है । यह कटौती उसके लिए विवशता को जन्म देती है । हमारी जो आदत बन चुकी होती है, यदि उस आदत में कटौती करनी पड़ती है, तो उसके लिए हमें कई

मुश्किलातों का सामना करना पड़ता है । मोहम्मद आरिफ की कहानी 'इंग्लिश पनीर @ मिलन' के मिस्टर शर्मा की यह उक्ति वेतनभोगी की ऐसी ही समस्या की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करती है- "किसी भी रेस्ट्रां में जाने पर मेरी सबसे बड़ी समस्या और दुविधा रहती है मैन्यू को हैंडिल करना । मैंने गौर किया है कि यह समस्या कइयों के साथ रहती है ।"(12)

'मॉल कल्चर', जिसमें एक ही स्थान पर जरूरत की सारी चीजों को मुहैया करा दिए जाने के प्रयत्न का विकसित होना बाजार की नयी संस्कृति को बढावा देने की तरह है । बाजार की यह संस्कृति भूमंडलीकरण के बाद बननेवाली दुनिया की तस्वीर में दिखाई देने लगी है । मोहम्मद आरिफ की उक्त कहानी में तफ़सील से इस बात को रेखांकित किया गया है । प्रभा खेतान लिखती हैं-"उपभोक्ता संस्कृति में चीज का उपभोग प्रतीकात्मक होता है । हो सकता है, उस वस्तु का कोई भौतिक मूल्य न हो, फिर भी प्रतीकात्मक स्तर पर उपभोक्ता के लिए वह बेशकीमती मायने रखता है । उपभोक्ता जरूरत के अनुसार चीजें न खरीदकर अपनी हैसियत, अन्य मानसिक जरूरत, लोभ आदि के अनुसार खरीदते हैं ।" (भूमंडलीकरण: ब्रांड, संस्कृति और राष्ट्र, सामयिक प्रकाशन, संस्करण-2007,पृष्ठ-32)।(13)

शहर का आकर्षण अपनी ओर आकृष्ट करता है । शहर एक व्यामोह रचता है, जिसमें हमें सुविधायें ही दिखाई देती हैं । हम उस सुविधा को पाने की चाह में उससे चिपकते हैं । हमें ऐसा लगता है कि शहर हमारी सभी जरूरतों को पूरा कर देगा । हम इस चाह में यह भूल जाते हैं कि हमारी ये जरूरतें हमें दुखों और तकलीफों की ओर भी ढकेल सकती हैं । ऐसे ही व्यामोह में हम जकड़ते चले जाते हैं और शहर की दुखभरी दास्तान से हम अपने को उस समय तक अनजाना बने रहने देना चाहते हैं, जबतक कि हमें दुख सताने नहीं लगता है । ऐसा भी नहीं है कि शहर में सिर्फ दुख ही मिलता है । शहर में सुविधायें भी मिलती हैं, तभी तो उन सुविधाओं को पाने की चाह हमेशा हमारी बनी रहती है । यह दीगर है कि जब हम उस चाह को पा नहीं पाते और उसमें हमें कठिनाईयाँ अधिक महसूस होने लगती हैं, तो फिर से हमें हमारा अपना गाँव याद आता है । आज जब पूरी मनुष्य जाति 'कोरोना' के संकट से दो-चार हो रही है, तो शहर से गाँव की ओर नजरें इनायत होने लगी हैं । लेकिन यह नजर क्षणिक है, तात्कालिक है । जैसे ही शहर की स्थिति अच्छी होगी, हम फिर गाँव से शहर की ओर चले जायेंगे । मनुष्य का यह विवेक उसे शहर की ओर खींचती चली जाती है ।

यदि लोकतंत्र में राजतंत्र पनपने लगे, शासक राजा की भांति व्यवहार करने लगे, तो यह स्थिति धार्मिक सद्भाव के लिए शासक की नीयत पर निर्भर करने लगती है । यदि शासक की नीयत धार्मिक सद्भाव को भड़काने की हो जाए और किसी धर्मविशेष के प्रति अत्यधिक लगाव (जो वास्तव में दिखावे में ही हो सकता है) और किसी दूसरे धर्म के प्रति लोगों के मन में नफ़रत के भाव पैदा करने की कोशिश की जाने लगे, तो यह स्थिति किसी भी लोकतांत्रिक सरकार के लिए और कहें कि लोकतंत्र के लिए अच्छी नहीं कही जा सकती है । भूमंडलीकरण के बाद भारत में सत्तासीन पार्टियों का एक धड़ा ऐसा रहा, जिसने धार्मिक सद्भाव को भड़काने की भरसक कोशिश की है । इस भड़कावे के पीछे किसी खास धर्म के प्रति नफ़रत के भाव दूसरे धर्म के लोगों में पैदा करने की रही है, ताकि उस नफ़रत में वह आसानी से देश के सामने ज्वलंत और असल मुद्दों पर काम न करने के बावजूद लोगों को धार्मिक आधार पर अपनी तरफ आकर्षित करने में जुटी रह सके । इस कोशिश में मुद्दों को सुलझाने की मंशा के बजाय लोगों में दहशत के भाव पैदा करने की अधिक जान पड़ती है । (मनोज कुमार पाण्डेय की कहानी 'घंटा' इस बात को बखूबी चित्रित करती जान पड़ती है ।)(14)

राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर धर्म का आड़ लेकर जिस तरह से किसी खास धर्म के लोगों को फंसाने की कवायद की जाती है, उस कवायद में हाल के वर्षों में बढ़ोत्तरी देखी जा रही है । यह बढ़ोत्तरी किसी खास धर्म को टारगेट कर, उसे बदनाम करने की साजिश के तहत अधिक दिखाई देती है । यह किसी भी मामले में राष्ट्रीय सुरक्षा का सवाल नहीं होता, लेकिन उसे बरबस बनाया जाता है । 'राष्ट्रीय सुरक्षा से कोई समझौता नहीं'- के स्लोगन के तर्ज पर धार्मिक भावनाओं को उकसाने और राजनीतिक रोटी सेंकने की फिराक दिखाई देती है । पंकज मित्र की कहानी 'मने की लबरा नाई की दास्तान' इस बात को बखूबी चित्रित करती जान पड़ती है ।

सत्ता परिवर्तन लोकतंत्र की खूबसूरती है । इस खूबसूरती में लोगों का सम्मिलित होना एक पर्व की तरह होता है । हम पर्व मनायें और पर्व मनाने लायक बने रहें- यह कामना हमारी रहती है । सत्ता चाहे जिस भी दल के हाथ में हो, आमलोगों के लिए तो उसका काम ही उसे भरण-पोषण उपलब्ध करा सकेगा। महत्वपूर्ण भी यही है कि हमें जो भी काम करना है, उसे बहुत ईमानदारी पूर्वक करते रहने का प्रयत्न करना चाहिए । प्रियदर्शन की कहानी 'सलीम साहब, काश आप हमारे संपादक होते'(15) के सलीम भाई भी

इस बात को बखूबी समझते हैं कि उसके जिम्मे तो उसका काम ही है, जो उसे दो-जून की रोटी नसीब करा सकेगा; सत्ता की कुर्सी पर चाहे जो भी व्यक्ति सत्तानसीं हो ।

नोटबंदी से होने वाले आम जनता को नुकसान और इसे मीडिया द्वारा मशाले के रूप में इस्तेमाल किये जाने का प्रतिकार सलीम साहब जैसा संपादक ही कर सकता है । आज ऐसे संपादकों की जरूरत है, जो प्रसारण की चीजों को समझ सके । जिसे आमजन का ध्यान हो, जो 'खुद्दारी' का भी अर्थ जानता हो,जो दर्शकों के सामने कुछ, तो पर्दे के पीछे असल हकीकत बयानगी से अपने को महरूम रखने वाला- ऐसे संपादक पत्रकारिता के चौथे स्तम्भ के स्वप्न को संजोने में मददगार भला कैसे हो सकते हैं? जरूरत है सलीम भाई जैसे लोगों की 'खुद्दारी' की, जो अपने मालिक की ड्राइवरी करते हुए भी संपादक की हैसियत रखता है और गलत को गलत कहने में संकोच नहीं करता । काश! सलीम भाई जैसा संपादक होता, तो हम भी कुछ लिखने की, कहने की जहमत उठा सकते !

भूमंडलीकरण के बाद बाजार ने जिस ढंग से अपना चेहरा बदल लिया है, वह चेहरा जितना अधिक पारदर्शक है, जितना लोमहर्षक है और जितना उपभोक्ताओं को लुभाने वाला है, उतना ही उपभोक्ताओं की जेब बड़ी 'चतुराई' से हल्का करने वाला भी है । यह 'चतुराई' ही भूमंडलीकृत होती दुनिया और उसके बाजार की बहुत बड़ी शक्ति है ।बाजार अपनी इसी शक्ति के बल पर उपभोक्ताओं पर अपना कब्जा जमाये जा रहा है । उपभोक्ता लुटते चले जा रहे हैं, लेकिन उनको अपनी यह लूट समझ में नहीं आ रही है । इसी के बरक्स बाजार अपने लूटतंत्र को और अधिक मजबूत करता चला जा रहा है । एजाज अहमद इस संदर्भ में लिखते हैं-"वैश्वीकरण की संस्कृति भारत में कुछ खास जीवन पद्धतियों को नष्ट करती है और कुछ अन्य को प्रोत्साहित करती है "(संवेद, अंक-36, जनवरी-2011,पृष्ठ-20)। (16) बाजारवाद जिस जीवन पद्धति को प्रोत्साहित करने में जुटा है, उसमें उपभोक्तावाद और व्यक्तिवाद है,जबकि जिन चीजों को वह नष्ट कर रहा है, उसमें हमारी परस्परता, प्रेम एवं सौहार्द्र, प्रश्नवाचकता एवं पारिवारिकता के सकारात्मक मूल्य शामिल हैं । (बसंत त्रिपाठी की कहानी 'पंद्रह ग्राम वजन', जो 'पक्षधर' के जनवरी-जून 2015 अंक में प्रकाशित है- इस बात को बखूबी चित्रित करती जान पड़ती है) ।(17)

भूमंडलीकरण ने दुनिया की तस्वीर को बेशक बदलने का काम किया है ।यह बदलती हुई तस्वीर जितना लोमहर्षक है और कितना वाजिब- इसकी पड़ताल तो समय अपने हिसाब से कर रहा है । इतना तो अवश्य है कि बदलाव चहुँओर अवश्य दिखाई दे रही है । गाँवों

में भी अब रंगीन सपने देखे जाने लगे हैं । गाँव कस्बा और शहर में तब्दील होने के लिए जैसे संजाया-संवारा जा रहा है । गाँवों की इस तब्दीली ने पर्यावरण को भी क्षति पहुँचाने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ रखा है । नदियों के पानी की निर्मलता कालेपन में तब्दील होती चली जा रही है । पेड़ों की कटाई उस गति से कई गुणा अधिक है, जिस गति में नये पेड़ लगाये जा रहे हैं । गाँव की जमीनें बड़ी-बड़ी कंपनियों के फार्म हाउसों के लिए उपलब्ध करायी जा रही हैं और मल्टीनेशनल कंपनियाँ अपनी फैक्ट्रियों के काले गुबार से गाँव और आसपास के वातावरण को काली करने के लिए कटिबद्ध दिखाई दे रही हैं । गाँव के किसान अब किसान कहलाने की स्थिति में नहीं दिखाई देते या तो वे गाँव से पलायन कर शहरों में मजदूरी करने के लिए विवश किए जा रहे हैं या फिर आत्महत्या करने के लिए विवशता उनका पीछा करती जान पड़ रही है । गाँवों का यह परिवर्तन गाँवों में "नये-नये कान्वेंट, नये-नये क्लिनिक, नये-नये ढाबे, नये-नये चकलाघर, मिल्क बूथ, और टेलीफोन बूथ" (गौरीनाथ की कहानी 'तर्पण', नया ज्ञानोदय, साहित्य वार्षिकी, 2015) (18) के साथ सजे हुए दिखाई देने लगे हैं । कहा जाए कि 'मैन पावर' अब 'ह्यूमन रिसोर्स' में तब्दील होने लगा है, तो शायद किसी प्रकार की कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी । उत्पन्न स्थिति ने विचारों की दुनिया में भी कशमकश ला खड़ी की है । एक ओर गाँवों में रहने की आकांक्षा की जिद्द दिखाई देती है, तो दूसरी ओर उस जिद्द के टूटते चले जाने की तस्वीर भी हमारे सामने नुमायाँ हो आती है । जो व्यक्ति गाँव से लंबे समय तक अपनी आजीविका के लिए बाहर रहता रहा, आज उसे गाँव में रहना कष्टप्रद लग रहा है । यह एक ऐसी स्थिति है, जिसमें उसे इस बात की आशंका भी है कि यदि गाँव से लंबे समय तक अनुपस्थित रहे, तो हमारी पुश्तैनी संपत्ति किसी के द्वारा हड़प कर ली जा सकती है । सवाल यह है कि यदि इसी तरह गाँवों से निकलने की प्रक्रिया निरंतर जारी रही, तो गाँवों में रहने वाला कौन बचेगा? जो रहेगा वह मजबूरी में ही गाँवों में रहने के लिए विवश हो रहा होगा । इस स्थिति से निजात कैसे पायी जाए- यह हमारे लिए चुनौतीपूर्ण है और एक बहुत बड़ा सवाल भी खड़ी करती है । इस सवाल से हमें न सिर्फ टकराना है, बल्कि इसका उत्तर भी ढूंढ़ने की कोशिश करनी है ।

जल, जंगल और जमीन से जुड़ाव मनुष्य होने की परिकल्पना को मूर्त करता जान पड़ता है । मनुष्य का जिंदा रहना सिर्फ शारीरिक रूप से ही नहीं होता, बल्कि शारीरिक से अधिक मानसिक रूप से जिंदा होना होता है । कोयले खदान की कोख से जन्म लेने वाला मनुष्य वास्तविक रूप से उसके जंगल के जुड़ाव को द्योतित करता जान पड़ता है । भले

ही ऐसा सुनने में अप्रिय लगे, पर उस व्यक्ति की वास्तविक पहचान इससे संभव हो जाती है । आज जो कुछ भी भूमंडलीकृत दुनिया की बनती तस्वीर में जल, जंगल और जमीन को उसके अपने वास्तविक रूप से मिटा देने का प्रयत्न चल रहा हो, इस प्रयत्न की सफलता-विफलता उसी पर निर्भर करती है कि जल, जंगल और जमीन से मनुष्य का जुड़ाव किस तरह का है! यदि यह जुड़ाव वास्तविक है, तो हम चुनौतियों को चाहे भले ही वह सत्ता पक्ष की ओर से क्यों न आई हो- दूर करने में सफल जरूर हो पायेंगे ! जल, जंगल और जमीन से जुड़ने की आकांक्षा का आग्रही जान पड़ती है- गोपाल नायडू की कहानी 'कामरेड की पत्नी', जो 'पहल'- 114 में प्रकाशित है । (19)

धार्मिक भावनाओं को भड़काकर जिस तरह से धर्म के नाम पर लोगों को कथित तौर पर एक धर्म विशेष के लोगों के प्रति दूसरे धर्म के लोगों के मन में विष भरने का काम किया जा रहा है, वह भूमंडलीकरण के बाद भारत की बनने वाली तस्वीर में प्रमुखता से स्थान लेता दिखाई दे रहा है । इसे हिंदी कहानियों ने जिस ढंग से जगह देने की कोशिश की है, उनमें एक महत्वपूर्ण कहानी के रूप में 'पहल'-125 में प्रकाशित मिथिलेश प्रियदर्शी की कहानी 'धीरे जाएं, आगे तीखा मोड़ है'- को शुमार किया जा सकता है । (20)

मूल्यों का जिस ढंग से क्षरण हुआ है और हो रहा है, उससे स्थिति ऐसी बन रही है कि पिता के मूल्य भी बच्चों के लिए कांटों की तरह चुभने लगे हैं । आशुतोष की कहानी 'पिता का नाच' के जग्गू और सत्तू के पिता नंदू नचनिया थे । जग्गू और सत्तू ने ढेर सारा पैसा इकट्ठा कर समाज में अपनी हैसियत बना ली थी । इस हैसियत की वजह से दोनों इस कदर दर्प में चूर थे कि वे नहीं समझने को तैयार थे कि यह हैसियत हमें पिता की वजह से ही प्राप्त हुई है । आज जब दोनों बच्चे हैसियत वाले कहलाने लगे थे, तो उन्हें उनके पिताजी नचनिया दिखाई देने लगे थे। जिस नचनिया की वजह से दोनों के पिताजी की हैसियत बनी थी, यदि उसे भूला दिया जाता तो, नंदू की भी हैसियत कुछ नहीं रह जाती । नंदू सिर्फ नचनिया नहीं था, बल्कि वह उसका मूल्य था । आज हम अपनी अगली पीढ़ी में सकारात्मक मूल्यों को अंतरित कर पाने में जिस ढंग से विफल होते जा रहे हैं, उसी का नतीजा है नंदू का अपने बेटों द्वारा कथित संपत्ति के दर्प में अपमानित किया जाना । हम और हमारी अगली पीढ़ी भूमंडलीकरण के 'नाच' में बिना सोचे-समझे नाचने को तैयार हैं और अपनी पिछली पीढ़ी के मूल्यों को दुत्कारने तक के लिए तैयार बैठे हैं । क्षरित होते जा रहे मूल्यों की पड़ताल करती दिखाई देती है आशुतोष की कहानी 'पिता का नाच', जो वागर्थ, दिसंबर-2015 के अंक में प्रकाशित है ।(21)

इक्कीसवीं सदी में जवान हुई पीढ़ी का जन्म 1991 के आसपास हुआ है। यह समय एक बड़े परिवर्तन का सूचक है । भूमंडलीकरण ने दुनिया की तस्वीर को व्यापक रूप से परिवर्तित किया है । यह परिवर्तन समय की आहटों के साथ और भी घनीभूत होता चला जा रहा है । यहाँ से पीढ़ियों की सोच में व्यापक बदलाव देखा जा सकता है । कहानीकार सुषमा मुनींद्र ने बदली हुई पीढ़ियों की सोच में आ रहे परिवर्तनों को बड़ी तफ़सील और सारगर्भित ढंग से अपनी कहानियों में उकेरने की कोशिश की है । 'पिया बसंती' की चौथी पीढ़ी की नवधा की तरह 'आप अपने आप में अनुपम और अद्‌भुत हैं' की अपाला भी 'संस्कारों' से मुक्त हो अपनी 'फ्रीडम' के साथ जीना अधिक पसंद करती है ।(22) इस 'फ्रीडम' ने एक नकारात्मक चीज जो दिया है, वह यह कि 'पिया बसंती' कहानी की चौथी पीढ़ी, जो भूमंडलीकरण के आसपास जन्मी है- को घर का काम करने में कम, काम के नाम पर बाहर 'चकल्लस' करने में अधिक सुविधाजनक महसूस होती है । एक दूसरी बात जो हमारे सामने दिखाई देती है, वह यह कि बदल रहे समय में जो परिवर्तन दिखाई दे रहा है, उस परिवर्तन में घर की स्त्रियाँ 'अपना घर' छोड़ने को विवश दिखाई दे रही हैं । सवाल यह है कि विवशता ऊपजी क्यों है? इस विवशता के पीछे जो एक बात समझ में आती है, वह यह कि हरेक व्यक्ति का यह दायित्व बनता है कि वह अपने घर की जिम्मेदारी को समझे! यदि इस समझदारी में कहीं कोई गड़बड़ी होती है, तो मामला गड़बड़ होने लगता है । यह गड़बड़ी यदि पुरूषों द्‌वारा की जा रही है, तो स्त्रियाँ भी इस गड़बड़ी में अपना हाथ बंटाने में पीछे नहीं दीख रही हैं ।

संदर्भ सूची:

1 एजाज अहमद- 'भूमंडलीकरण और संस्कृति', संवेद, अंक-36, जनवरी-2011 ।

2 समकालीन भारतीय साहित्य, अंक-156, जुलाई-अगस्त, 2011 ।

3 अल्पना मिश्र- 'स्याही में सुर्खाव के पंख'(कहानी-संग्रह), राजकमल पेपरबैक, संस्करण-2017 ।

4 उपर्युक्त ।

5 देवेन्द्र- 'समय बे-समय' (कहानी संग्रह), भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2016।

6 सत्यनारायण पटेल- 'तीतर फांद' (कहानी), 'पल प्रतिपल'-79 ।

7 उपर्युक्त ।

8 उपर्युक्त ।

9 उपर्युक्त ।

10 उपर्युक्त ।

11 उपर्युक्त ।

12 मोहम्मद आरिफ- 'इंग्लिश पनीर @ मिलन' (कहानी), 'पल प्रतिपल'-79 ।

13 भूमंडलीकरण: ब्रांड, संस्कृति और राष्ट्र, सामयिक प्रकाशन, संस्करण-2007 ।

14 मनोज कुमार पाण्डेय- 'घंटा' (कहानी), 'पल प्रतिपल'-79 ।

15 प्रियदर्शन- 'सलीम साहब, काश आप हमारे संपादक होते' (कहानी), तद्भव, मई-2019 ।

16 एजाज अहमद- 'भूमंडलीकरण और संस्कृति', संवेद, अंक-36, जनवरी-2011 ।

17 बसंत त्रिपाठी- 'पंद्रह ग्राम वजन' (कहानी), पक्षधर, जनवरी-जून-2015 ।

18 गौरीनाथ- 'तर्पण' (कहानी), नया ज्ञानोदय, साहित्य वार्षिकी-2015 ।

19 गोपाल नायडू- 'कामरेड की पत्नी' (कहानी), पहल-114 ।

20 मिथिलेश प्रियदर्शी- 'धीरे जाएं, आगे तीखा मोड़ है' (कहानी), पहल-125 ।

21 आशुतोष- 'पिता का नाच' (कहानी), वागर्थ, दिसंबर-2015 ।

22 सुषमा मुनींद्र- 'पिया बसंती' (कहानी-संग्रह) और 'आप अपने आप में अनुपम और अद्भुत हैं' (कहानी), पहल-104 ।